अनुबोधन, खण्ड 2, अंक 1, मार्च 2026, पृष्ठ 506–517
ISSN: 3049-4184 (प्रिन्ट), 3108-1185 (ऑनलाइन)
https://doi.org/10.65885/anubodhan.v2n1.2026.048

आदिवासी समाज के पर्यावरणीय दृष्टि का विश्लेषणात्मक अध्ययन

डॉ० प्रिया कुमारी दुबे *

प्राप्तिः 29 मार्च 2026 / स्वीकृतः 30 मार्च 2026 / प्रकाशितः 31 मार्च 2026
जर्नल वेबसाइटः https://anubodhan.org

भारत सांस्कृतिक विविधताओं का देष है। यहाँ पर विभिन्न जातियाँ निवास करती हैं। जिनमें आदिवासियों का महत्वपूर्ण स्थान है। आदिवासी समाज भारतीय सभ्यता व संस्कृति को वैष्विक परिदृष्य पर प्रस्तुतकर्ता जनजातीय समाज है, जिसने लोक संस्कृति व जीवन को बनाए एवं बचाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। आदिवासी हमारी प्राचीन संस्कृति के परिचायक हैं, आदिवासी शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है, 'आदि' और 'वासी'। 'आदि' का अर्थ 'मूल' और 'वासी' का अर्थ 'निवासी' है। अतः आदिवासी से तात्पर्य धरती के मूल नवासी से है, जो सभ्य जगत् से दूर घने जंगलों, ऊँचे पर्वतों और दुर्गम घाटियों में निवास करते हैं, आदिवासी का शाब्दिक अर्थ है 'आदिकाल से देष में रहने वाली जाति'।

वर्तमान स्थिति में 'आदिवासी' शब्द का प्रयोग विशिष्ट पर्यावरण में रहने वाले, विशिष्ट भाषा बोलने वाले, विशिष्ट जीवन पद्धति तथा परम्पराओं से सजे और सदियों से जंगल, पहाड़ों में जीवन–यापन करते हुए अपने धार्मिक और सांस्कृतिक मूल्यों को संभालकर रखने वाले मानव समूह का परिचय करा देने के लिए किया जाता है और बहुत बड़े पैमाने पर उनके सामाजिक दुःख तथा नष्ट हुए संसार पर दुःख प्रकट किया जाता है।[1] आदिम जातियों और जनजातियों के लिए 'आदिवासी' शब्द का प्रयोग प्राचीन समय से ही किया जाता रहा है। इन्होंने अपनी सभ्यता और संस्कृति की धरोहरों को युगों में संजोया हुआ है, इसलिए ये राष्ट्र के असली वारिस कहे जा सकते हैं। सभ्यता और संस्कृति के विकास की भूमिका मुख्यधारा से अधिक प्राचीन व वास्तविक है।

आदिवासी समाज ऐसा समाज है जिसके नाम में ही उसकी पहचान छिपी हुई है। आदिवासी शब्द के लिए 'मूलनिवासी' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है अर्थात् आदिवासी समाज इस भूमि का मूल निवासी है। वही इस भूमि का उत्तराधिकारी भी है,

---

***दर्शनशास्त्र विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची (झारखण्ड)**

ई-मेल: priyadubey36@gmail.com

इसलिए आदिवासियों को भारत का मूल निवासी माना जाता है। आदिवासी संस्कृति पर्यावरणीय संस्कृति है। आदिवासी हमेशा से ही प्रकृति की गोद में रहे हैं। आदिवासी संस्कृति सहअस्तित्व की संस्कृति है। प्रकृति के बिना आदिवासी अपने अस्तित्व की कल्पना नहीं कर सकते। आदिवासियों ने प्रकृति को न तो छेड़ा है और न ही उसका दोहन किया। उसके हर व्यवहार व संस्कार में प्रकृति का संरक्षण व पोषण की भावना निहित है। आदिवासी जीवन वन सम्पदा का पूजक और हितैषी रहा है। अपनी परम्परा से भावनात्मक जुड़ाव के कारण आज भी देष की ये विविध जनजातियाँ जंगलों, पहाड़ों के बीच रहकर 'वनदेवता' (सिंगबोंगा) की पुजा करते हैं। जंगल और जंगल के सम्पूर्ण परिवेष के साथ उनका नाभिनाल संबंध है। वेशभूषा, खान–पान, पर्व–त्योहार, नृत्य, गीत, पूजा–पाठ अर्थात् इनके जीवन का कोई भी पक्ष हो, प्रकृति वहाँ साकार रूप में विद्यमान रहती है। लेकिन विकास और औद्योगिकीकरण जंगल व जमीन के सौदागरों के कारण आदिवासी आज पर्यावरण शरणार्थी बन गये हैं। उसके ठोर–ठिकाने को वनों की अंधाधुंध कटाई व औद्योगिकीकरण ने उजाड़कर रख दिया है। आदिवासियों ने प्रकृति और पर्यावरण जल, जंगल और जमीन से जुड़े मुद्दों को उठा रही है। वे काल्पनिक या सतही नहीं है बल्कि आज का यथार्थ और ज्वलंत समस्या है। नदियाँ सूखती जा रही है, तो पर्वत टूटकर समतल होते जा रहे हैं। प्रकृति के मनोरम दृष्य, पशु– पक्षी, वनस्पतियाँ, पेड़–पौधे लुप्त होते जा रहे हैं।

आदिवासी अर्थव्यवस्था वन प्रधान थी, परन्तु स्वतंत्रता के बाद जंगलों की कटाई तेजी से होने लगी। सरकार ने विकास के नाम पर बड़े–बड़े बांध बनाए, जिससे लाखों लोग विस्थापित हुए। हमारे देश की विकास नीति का लक्ष्य होना चाहिए था 'विकास में सबको समान अधिकार की प्राप्ति' लेकिन ऐसा नहीं हुआ। विकास तो हुआ पर कुछ चुनिंदा लोगों का संख्य लोगों की कीमत पर, खासकर आदिवासियों की कीमत पर। राष्ट्रीयता के नाम पर आदिवासियों की जमीन अधिग्रहित कर उन्हें विस्थापित ही नहीं किया गया, बल्कि उसके संदर्भ में संविधान में प्राप्त मूल अधिकारों का उल्लंघन भी किया गया। इस विकास परियोजनाओं से इन आदिवासी प्रदेषों अथवा क्षेत्रों का आर्थिक संतुलन भी बिगड़ गया। सरकार के द्वारा कई योजनाएँ बनाई जाने लगीं जिससे वे अपने वनों, जंगलों से खदेड़ दिए गए। आदिवासियों को गरीबी, बदहाली, अशिक्षा, अंधविश्वास, बेरोजगारी आदि कई मुसीबतें झेलनी पड़ रही हैं।

आदिवासी समाज के अस्मिता के संकट को लेकर गहरी चिंता व्यक्त की गई है। आदिवासियों को जंगल, नदी और पहाड़ों से घिरे उनके प्राकृतिक और पारंपरिक परिवेष से बेदखल किया जा रहा है। अभी तक वह अपने विष्वासों, रीति–रिवाजों, लोकनृत्यों और लोकगीतों के साथ कुँओं, मवेषियों, नदियों, तालाबों और जड़ी–बूटियों से संपन्न एक जनसमाज में रहता आया है। इसकी अपनी एक विशिष्ट संस्कृति रही है। उसका अपना विकसित अर्थतंत्र था। वह अपने पुश्तैनी, पारंपरिक और कृषि आधारित कुटीर धंधों से परंपरागत था। बढ़ईगिरी, लोहारगिरी, मधुमक्खीपालन, दोना–पत्तल, मधु उत्पादन, रस्सी, चटाई, बिनाई जैसे काम उसे विरासत में मिले थे, परन्तु आज खुले बाजार की अर्थव्यवस्था ने सदियों से चले आए उनके पुश्तैनी और पारंपरिक धंधों को चौपट कर दिया है।[2]

आदिवासी दर्शन की एक खास बात है – जीवन के प्रति आनंदमयी अदम्य जिजीविषा। आज जब चारों ओर निराशा और कुंठा का माहौल है, आदिवासी दर्शन जीवन को आनंदमय नजरिए से देखने और जीने की वकालत करता है। आदिवासी जीवन में सांस्कृतिक वैविध्य के साथ सहजता और सरलता का अनूठा मेल देखने को मिलता है जो जीवन को आनंदमयी बनाए रखता है। वहाँ न पैसे की लालच है और न मुनाफे की अंधी दौड़। बल्कि वह अपने सुखमय जीवन के लिए सृष्टि और समष्टि के प्रति कृतज्ञ महसूस करता है। ''भारत की जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा आदिवासियों का है। पुरातन लेखों में आदिवासियों को अत्विका और वनवासी भी कहा गया है।''[3]

आदिवासी संस्कृति पृथक् संस्कृति रही है और इसको मानते हुए समाज वैज्ञनिक आदिवासी संस्कृति संरक्षण पर विशेष बल देते हैं, पर यह निर्विवाद सत्य है कि बाह्य संसार में प्रवेश करने से शनैः शनैः इनकी संस्कृति का व्यापारीकरण होने लगेगा और वे समाज की व्यापक संस्कृति में मिल जायेंगे। आदिवासी संस्कृति में आदिवासी धर्म की संकल्पना है, उनका धर्म प्रकृतिवाद है। भारतीय संस्कृति और सभ्यता के सब ओर आदिवासी परंपराएँ और प्रथाएँ छाई हुई हैं, फिर भी इस तथ्य की जानकार आम लोगों में नहीं है। ''भारतीय दर्शनशास्त्र भाषा एवं रीति–रिवाज में आदिवासियों के योगदान के फैलाव और महत्व को अक्सर इतिहासकार और समाजषास्त्रियों के द्वारा कम करके आंका और भुला दिया जाता रहा है।[4]

विकास और पर्यावरण प्रदूषण

पर्यावरण मानव जीवन का अभिन्न अंग है, जिसके संरक्षण के बिना मानव का अस्तित्व सुरक्षित नहीं है, लेकिन अफसोस की बात है कि वर्तमान विज्ञान व तकनीकी के युग में मानव की स्वार्थी प्रवृत्ति औद्योगीकरण, रोड चौड़ीकरण, वन संसाधन अतिदोहन व अन्य विकास कार्यों के नाम पर वनों के दोहन की वजह से ऑक्सीजन स्रोत नष्ट हो रहे हैं व कार्बन– डाइऑक्साइड की बढ़ती मात्रा मानव व प्रकृति के अस्तित्व के लिए भयानक खतरा पैदा हो गया है। वर्तमान में तेजी से घटते जंगल और बदलते हुए पर्यावरण को बचाने के लिए सदियों से जंगलों के साथ जीवन का संबंध निभाने वाले आदिवासी समाज की अहम् भूमिका है। भारत में लगभग 645 अलग–अलग जनजातियाँ निवास करती हैं। जल, जंगल और जमीन को परंपराओं में भगवान का दर्जा देने वाले आदिवासी बिना किसी स्वार्थ के जंगलों और स्वयं के अस्तित्व को बचाने के लिए आज भी प्रयासरत है।

आज समय के साथ हमारे देष ने प्रगति की है। हमलोगों ने भी कुछ प्रगति जरूर की है। जिसमें हमलोग देख रहे हैं कि दिन–प्रतिदिन विज्ञान के नए–नए आविष्कार हो रहे हैं। इन वैज्ञानिक आविष्कारों से हमलोगों ने अपने आसपास भौतिक सुख–सुविधाओं का जंगल जरूर खड़ा कर लिया है, पर नाच–गान और जीवन का नैसर्गिक आनंद जो आदिवासियों के पास था, उसमें लगातार बिखराव आता जा रहा है। हालांकि हम इसे बचाने की भरपूर कोशिश में लगे हुए हैं, लेकिन इसी के साथ हम अविश्वास के माहौल को भी लगातार बढ़ा रहे हैं। अपने स्वार्थ के लिए धरती माँ की पीड़ा और रूलाई को अनसुना कर रहे हैं और सबसे बड़ी दुर्भाग्य की बात यह है कि दुनियां को अभी भी जो

जीवन दर्शन बचा सकता है, उसके वाहक वंषज आदिवासी लोगों का जीवन संकट में है।[5]

विश्व में एक आदिवासी दर्शन ही है जो सबसे ज्यादा मानवीय है। यूरोप के लोग जो दुनियां में सबसे विकसित हैं वे कह रहे हैं कि हमें आदिवासी जीवन दर्शन को अपनाना होगा, उन्हीं के जैसे जीना होगा, ऐसा वे पहले नहीं कहते थे। आज कह रहे हैं क्योंकि ग्लोबल वार्मिंग के संकट ने उनको ऐसा कहने के लिए मजबूर कर दिया है। जिससे बचने के लिए वैज्ञानिकों को भी कोई उपाय नहीं सूझ रहा है। धरती का तापमान लगातार बढ़ रहा है और इसे रोकने के सारे उपाय फेल हो चुके हैं। ऐसे में विकसित देशों और समाजों को लग रहा है कि आदिवासी दर्शन ही पूरी दुनियां को इस संकट से बचा सकता है।

प्रकृति का विनाष करके हम विकास की कल्पना नहीं कर सकते, जबकि आज एक भ्रामक धारणा प्रचारित की जाती रही है कि विकास के लिए कुछ तो किसी को तो बलिदान देना ही होगा। परन्तु सत्य यह है कि विकास के ऐसे धोखाधड़ी मॉडल प्रस्तुत किये जा रहे हैं जो स्वयं भी प्रकृति विरोधी होते हैं तथा उसको अंजाम देने वाली व्यवस्था भी लूट की भावना से ग्रस्त रहती है। यह किसी से छुपा हुआ नहीं है कि विकास के नाम पर प्राकृतिक संसाधनों का नीति और नियमों का उल्लंघन कर दोहन किया जा रहा है। सरकार इस दृष्य को खुली आँखों से देख रही है। लेकिन पूंजीवादी गठजोड़ के कारण औद्योगिकीकरण बड़ी–बड़ी परियोजनाओं, शहरीकरण, विकास के विविध कार्यों के बहाने न केवल अनियंत्रित रूप से जल, जंगल, जमीन को हड़पा जा रहा है, बल्कि प्रकृति की संरचना के साथ भी छेड़छाड़ की जा रही है। विकास के इस आधुनिक मॉडल में आदिवासियों की बरबादी सबसे ज्यादा हुई है। जहाँ प्रकृति व पर्यावरण विनष्ट हुआ है, वहाँ आदिवासी विस्थापित दर विस्थापित होता हुआ अपने अस्तित्व को खो रहा है। वस्तुतः पर्यावरण एवं विकास की समस्याओं को अलग करके नहीं देखा जा सकता। इसके लिए एक नवीन दृष्टिकोण ठोस नीति तथा नियंत्रण की आवश्यकता है, यह आवश्यकता है कि हमारी विकास की गति अवरूद्ध होगी, अपितु स्वयं मानव का भविष्य अंधकारमय हो जायेगा।[6]

पर्यावरण संरक्षण और आदिवासी समाज की जीवन शैली

प्रकृति को माता मानने वाले व जल, जंगल और जमीन को भगवान का दर्जा देने वाले आदिवासियों ने सदियों से बिना किसी स्वार्थ के इनकी रक्षा की है। आदिवासियों के जीवन में जल, जंगल और जमीन का विशेष महत्व रहा है।

किसी भी समाज के पास जीने का अपना दर्शन होता है। इसी तरह से हमारे जो विभिन्न आदिवासी समुदाय हैं उनमें धरती और इस दृष्टि के हर सजीव और निर्जीव वस्तु को देखने का अपना–अपना एक नजरिया है। हमारे पुरखों ने भी जीने का एक तरीका खोजा था, धरती, नदी–पहाड़ और जंगल– जमीन की यात्रा करते हुए, चिड़ियों के साथ रहते हुए, पशुओं के साथ रहते हुए, इस देखे और अनदेखे जगत् और सृष्टि के साथ रहते हुए। उन्होंने अपनी यात्रा से अच्छी तरह से समझ लिया था, जीना है तो खुद से पहले जल, जंगल और जमीन के बारे में सोचना होगा। उन परिंदों का ख्याल करना होगा, जो दुनियां भर की यात्राएँ आज भी करते हैं और एक इलाके का फल–फूल धरती

के किसी और हिस्से में जाकर रोपते हैं। मतलब सामूहिकता और सहजीविता के विचार पर चलना। यह समुदाय परंपराओं को निभाते हुए शादी से लेकर हर शुभ कार्यों में पेड़ों को साक्षी बनाते हैं। वन संरक्षण क प्रबल प्रवृत्ति के कारण आदिवासी वन व वन्य–जीवों से उतना ही प्राप्त करते हैं, जिससे उनका जीवन सुलभता से चल सके व आने वाली पीढ़ी को भी वनस्थल धरोहर के रुप में दिए जा सके। इनमें वन संवर्धन, वन्य जीवों व पालतू पशुओं को संरक्षित करने की प्रवृत्ति परंपरागत है। इस कौशल दक्षता व प्रखरता की वजह से आदिवासियों ने पहाड़ों, घाटियों व प्राकृतिक वातावरण को आज तक संतुलित बनाए रखा है।

आदिवासी जीवन दर्शन क्या है? आदिवासी दर्शन है प्रकृति के साथ जीना सीखो, प्रकृति का उतना ही उपयोग करो, जितना जीवन के लिए जरूरी है। लालच के लिए प्रकृति को नष्ट नहीं करो। यूरोप ने शायद यह स्वीकार कर लिया है कि उसने लालच के लिए प्रकृति का अत्यधिक दोहन किया है। उन्हें ऐसा अहसास अब हुआ है जब सबकुछ खत्म होने के कगार पर पहुँच गया है। जबकि आदिवासियों को यह सीख–समझ बहुत पहले ही मिल चुकी थी। इसलिए आदिवासी दर्शन कहता है प्रकृति को बचाओ, प्रकृति बचेगी तो तुम भी बचे रहोगे।[7]

भारत में आदिवासियों का जंगलों से रिश्ता मूल रूप से सहअस्तित्व के सिद्धान्त पर आधारित और एक–दूसरे के साथ परस्पर सम्बद्ध रहते हुए एक– दूसरे पर आश्रित रहा है। आजीवन वन भूमि एवं वन सम्पदाओं से आजीविका प्राप्त करने का उनका पुराना रिष्ता हमेषा निष्चित रूप धारण करने वाले स्फटिक की तरह रहा है और वे अपने अस्तित्व, पहचान, जीवन–यापन की सभी आवश्यकताओं की आपूर्ति के लिए जंगलों से लघु वन उत्पाद, जड़ी–बूटियाँ आदि एकत्र कर वन भूमि पर खेती करने एवं पालतू पशुओं को चराने, झुम खेती के साथ–साथ प्राकृतिक सौन्दर्य को बनाए रखते हुए अपनी धार्मिक जरूरतों को पूरा करते रहे हैं। जंगल उनके लिए संसाधनों का मुख्य आधार धार्मिक गतिविधियों का स्रोत, देवी– देवताओं का आवास स्थल तथा उनकी सांस्कृतिक पहचान का प्रमुख केन्द्र रहा है, जहाँ रहकर वे सभी प्राणियों के जीवन एवं समाजीकरण की विश्वावलोकन करते रहे हैं। वन परिस्थितिक तंत्र का मूल निवासी होने के कारण आदिवासियों का वन से संबंध घनिष्ठ रूप से आपस में जुड़ा है एवं जिसकी उत्पत्ति इस तरह से है कि एक के अभाव में दूसरे का स्वस्थ जीवन–यापन करना बहुत कठिन हो जाएगा, अर्थात् आदिवासियों के बिना जंगल नहीं बच सकता एवं जंगल के बिना आदिवासियों के लिए जीवन–यापन अविष्वसनीय है।

आदिवासी समाज प्रकृति के साथ अपने गहरे संबंध, परंपरागत ज्ञान और प्राकृतिक संसाधनो के संरक्षण के लिए जाना जाता है। उनका जीवन प्रकृति पर आधारित होता है और वे इसे अपनी सांस्कृतिक और सामाजिक पहचान का अभिन्न हिस्सा मानते हैं। आदिवासी जंगल में निवास करने वाली जनजाति समुदाय है, जंगल ही उनका परिवार है, जंगली जानवरों को भी वे अपने परिवार का अटूट हिस्सा मानते है, प्रकृति से प्राप्त संसाधनों से ही वे अपना जीवन निर्वाह करते हैं, लेकिन प्रकृति से उतना ही लेते हैं, जितने की जरूरत होती है। साथ ही वृक्षारोपण करना, बागवानी, फसल पैदा कर वे सामंजस्य बनाए रखते हैं। औद्योगीकरण व तकनीकी युग से पहले तक पर्यावरण की स्थिति बहुत सुरक्षित थी, लेकिन विज्ञान के युग ने पर्यावरण का बुरी तरह खनन किया,

उद्योगपतियों ने अपने निजी स्वार्थ के चलते आदिवासियों को बेदखल करके जंगलों की जगह बड़े–बड़े प्लांट्स स्थापित किए, कंपनियाँ खोली। वक्त बदल गया वक्त के साथ–साथ आदिवासियों का रहन–सहन भी बदला, लेकिन वक्त के साथ भी आदिवासियों का जल, जंगल, जमीन के प्रति लगाव कम नहीं हुआ। आज भी जनजातीय क्षेत्रों में पर्यावरण हरा–भरा व प्रदूषणरहित मिलता है।

➢ संयुक्त राष्ट्र के आदिवासी मामलों के स्थायी फोरम की 2007 में जारी रिपोर्ट के अनुसार, आदिवासी समुदाय विष्व के कुल 80 फीसदी सांस्कृतिक और जैव विविधता के संरक्षण और संवर्धन के लिए सीधे तौर पर उत्तरदायी है।

➢ आदिवासी अनादिकाल से जंगलों में समुदाय बनाकर रहते हैं। वन संरक्षण की प्रबल प्रवृत्ति के कारण ये वन एवं वन्य जीवों से उतना ही प्राप्त करते हैं, जितने की जरूरत हो, जिससे उनका जीवन सुलभता से चल सके व आगामी पीढ़ियों को भी वन स्थल धरोहर के रूप में दिए जा सके।

➢ आदिवासियों के शादी से लेकर प्रत्येक त्योहार में पेड़ों को साक्षी मानकर पूर्ण किये जाते हैं, आदिवासियों के वैवाहिक समारोह में सेमल के पत्तों का होना विषेष रस्म माना जाता है।

➢ आदिवासी जंगलों से जड़ी–बूटियों का संग्रह, फल–फूल, सब्जियाँ संग्रहण, लकड़ी कर्तन करते हैं, उन्हें शहरों में बेचकर अपना जीवन–यापन करते हैं। बदले में वे भरपूर वृक्षारोपण करते हैं, खासकर बारिष के तुरन्त बाद वे बड़े स्तर पर तरह–तरह के पेड़ लगाते हैं। साथ ही बड़े होने तक उनकी देखभाल भी करते हैं।

➢ आदिवासियों में वन संवर्धन, वन्य जीवों व पालतू पशुओं का संरक्षण करने की प्रवृत्ति परंपरागत है। इस कौशल दक्षता व प्रखरता की वजह से आदिवासियों ने पहाड़ों, घाटियों एवं प्राकृतिक वातावरण को आज तक संतुलित बनाए रखा है।

➢ आदिवासी ही इस बात को समझते हैं कि प्राकृतिक जंगल उगाये नहीं जा सकते, खुद बनते हैं। आदिवासियों ने अपनी सामाजिक व्यवस्था के तहत कुछ बंदिषें स्वयं पर लगा रखी है। इन बंदिषों के तहत महुआ, आम, करंज, जामुन, केड आदि के वृक्ष वे नहीं काटते, सखुआ के पेड़ की बंदिष यह है कि तीन फुट छोड़कर ही उसे काटना है। वे जलावन के लिए हमेषा सूखे पेड़ ही काटते हैं, इसलिए जहाँ आदिवासी हैं, वहाँ जंगल बचे हुए हैं व जहाँ वे नहीं, वहाँ जंगलों का नामों निषान मिट चुका है।

➢ आदिवासियों की वजह से जलवायु परिवर्तन के प्रभाव से अभी तक धरती बची हुई है, उनके द्वारा जल, जंगल और जमीन के संरक्षण से वातावरण शुद्ध बना हुआ है, जो कि नियमित वर्षा, स्वच्छ जल, स्वच्छ वायु, उपजाऊ जमीन सहित संसाधनों की उपलब्धता के लिए अतिआवष्यक है।

आदिवासियों का अपना धर्म सरना है, जो प्रकृति का धर्म है। वह पेड़ों और पूर्वजों की पूजा करता है। दफनाए गए या जलाए गए पूर्वजों की कब्रों या श्मषानों को चिन्हित करने तथा उसकी स्मृति बनाए रखने हेतु वह उन पर पत्थर लगाता है, जिन्हें वह 'ससन' कहता है और उसकी पूजा करता है। ससन पर उसके पूरे समाज का पूरे समूह

का हक होता है। वे इन ससन यानि पत्थरों को ही अपनी जमीन के पट्टे की तरह मानता है। उसका धर्म उसके जीने का नियम है, इसलिए वह व्यवहारिक है। आदिवासी अपने आप को हिन्दू नहीं कहता। वह अपनी पहचान अपने धर्म से नहीं बल्कि यह पूछे जाने पर कि ''तुम कौन हो? मैं आदिवासी हूँ'' कहता है। अपने टोटम या गोत्र जो पेड़–पौधों एवं जीवों के नाम पर होते हैं, को वह अपने परिचय में जोड़ देता है।[8] वास्तव में आदिवासी आर्यों से पूर्व का मनुष्य समूह है। वह इस भूमि का मूल मालिक है। सही अर्थ में वही क्षेत्राधिकारी है। इसलिए कुछ अध्ययनों ने उन्हें 'अबोरिजिनल' कहकर संबोधित किया है, जो उचित भी है।[9] भारत में लोग अधिकतर अनुसूचित जनजातियों को आदिवासी कहते हैं और इस रिपोर्ट में इन दोनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में किया गया है। माना जाता है कि आदिवासी भारतीय प्रायद्वीप के मूल निवासी हैं।

आदिवासी समाज में परंपरागत चिकित्सा व्यवस्था

मनुष्य शुरूआत से ही अपने भोजन, आश्रय और चिकित्सा के लिए प्रकृति पर ही निर्भर रहा है। वर्तमान में चिकित्सा प्रणाली में अंतर होने के उपरान्त भी चिकित्सा पद्धतियों का आधारभूत उद्देष्य मनुष्य के स्वास्थ्य तथा कल्याण की कामना ही है। जनजाति समाज में आज भी चिकित्सा पद्धति जीवित एवं सक्रिय है तथा व्यापक पैमाने पर आज भी इसका उपयोग होता ही है। स्वास्थ्य जीवन का एक आवष्यक आयाम है, इसके अभाव में मानव जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती है और इसलिए स्वास्थ्य पर चर्चा एक चुनौतीपूर्ण विषय है। हालांकि स्वास्थ्य सभी समुदायों और क्षेत्रों के जीवन का प्रमुख आधार है और जनजाति समुदाय के लिए इसकी महत्ता कहीं अधिक है। इसके दो प्रमुख कारण प्रतीत होते हैं – पृथक्करण और अंधविश्वास। विविध सरकारी और गैर–सरकारी प्रयासों के बावजूद जनजातीय स्वास्थ्य की गुणवत्ता आज भी कई चुनौतियों से युक्त है। विविध अध्ययन और जनजातीय स्वास्थ्य से जुड़े दस्तावेज उनकी स्वास्थ्य की दषा और दिषा को प्रस्तुत करते हैं। इसके कई उदाहरण जनसंचार के साधनों के माध्यम से भी प्रस्तुत किए जाते हैं। आवष्यकता है कि जनजाति क्षेत्रों में स्वास्थ्य की परिस्थितियों को व्यापक रूप से कर उनके स्थायी समाधान खोजे जाए और विविध सुविधाओं की उपलब्धता के उपयोग और महत्व को भी बताया जाए, तभी वास्तविकता में जनजाति क्षेत्रों की स्वास्थ्य की स्थिति में परिवर्तन का एक मार्ग तैयार किया जा सकता है, जहाँ कई जनजातियाँ विकास की ओर अग्रसर है। वहीं कुछ जनजाति आज भी अपने परंपरागत रीति–रिवाजों और धार्मिक संस्कारों के साथ आधुनिक विकास की दौड़ में पीछे हैं। आज भी हर तरह के बीमारी के लिए जड़ी–बूटियों पर निर्भर है और उसी से अपना ईलाज करते हैं। यह वनों के साथ आँख खोलते हैं, वनों के साथ सोते हैं। ये लोग जंगलों में निवास करते हैं तथा वनोपज पर आश्रित होने के कारण जंगली जड़ी–बूटियों, झाड़–फूंक और टोने– टोटके के अच्छे जानकार होते हैं। इन जनजातियों का प्रकृति के साथ अद्भुत सामंजस्य होता है, यही कारण है कि इनकी परंपरागत चिकित्सा पद्धति रही है।

चिकित्सा की यह पद्धतियाँ जनजाति के लोक चिकित्सकों परंपरागत रूप में पूर्वजों से प्राप्त होती है। इस चिकित्सा ज्ञान का हस्तांतरण पीढ़ी दर पीढ़ी जनजातियों में होता आ रहा है, वैसे इसमें थोड़ा बदलाव आया है। अब पुराने पीढ़ी के जनजातीय लोग नई पीढ़ी को अपना ज्ञान नहीं देते हैं, इसके पीछे की धारणा को बताते हुए बैगा जनजाति

कहते हैं कि धार्मिक मान्यता के कारण पुरानी पीढ़ी परम पारंपरिक औषधि का ज्ञान नई पीढ़ी को नहीं दिया जा रहा है। मान्यता के मुताबिक किसी औषधि के बारे में अन्य किसी को बताने से उसका प्रभाव कम हो जाता है। इसके पीछे औषधि पौधे के प्रति धार्मिक आस्था, पूजा और नियम के बंधन भी जुड़े हैं। इसलिए जनजातियों को इससे अनिष्ट होने का डर रहता है। दूसरी ओर नई पीढ़ी भी इस ज्ञान को प्राप्त करना नहीं चाहती है, क्योंकि यह रोजगारपरक नहीं है और युवाओं को रोजगार चाहिए। चिकित्सा पद्धति की जनजाति लोक चिकित्सक को परंपरागत रूप से पूर्वजों में विरासत से प्राप्त होती आ रही है। वन संपदा और प्राणियों आदि के संबंध में यह दक्ष होते हैं।

हमारे जीवन में वनों का महत्वपूर्ण स्थान है, वहाँ जहाँ एक ओर जनजातियों के लिए आजीविका के स्रोत उपलब्ध कराते हैं, वहीं उनकी जीवन रक्षा में भी अहम् भूमिका निभाते हैं, जंगलों से जनजातियों को न केवल वनोपज प्राप्त होता है, बल्कि सदियों का अक्षय भंडार वहीं से मिलता है। बीमार पड़ने पर अस्पताल जाने की बजाय सिरहा, गुनिया, देवार, भुनका, औसा अथवा इसी प्रकार के अन्य अपने परंपरागत चिकित्सकों के पास जाते हैं। चिकित्सक बीमारी के लक्षणों के आधार पर उसकी चिकित्सा परंपरागत झाड़–फूंक, तंत्र–मंत्र, पूजा– अनुष्ठान अथवा जड़ी–बूटियों के प्रयोग करते हैं, लेकिन वर्तमान में इस परंपरा में थोड़ा बदलाव आया है। विकास के नाम पर बाहरी समाज के लोग उनकी परंपरा को प्रभावित करने की कोषिष कर रहे हैं। जनजातीय समाज के द्वारा शहरों में संपर्क आने से खासकर उनका चिकित्सा पद्धति में बदलाव आया है। जंगलों की अवैध कटाई और जंगलों में जनजातियों के प्रवेश पर प्रतिबंध ने भी उनकी स्वास्थ्य नीति को काफी हद तक प्रभावित किया है। जड़ी–बूटियों के साथ–साथ गंभीर बीमारी के लिए शहर के चिकित्सकों के पास जाने लगे हैं, लेकिन जल्दी परंपरागत ज्ञान को नहीं सहेजा गया तो यह विलुप्त हो सकता है। देखा जाए तो झाड़–फूंक, तंत्र–मंत्र, पुजा–अनुष्ठान एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक चिकित्सा है। इससे कभी–कभी सकारात्मक परिणाम सामने आते हैं, लेकिन इस प्रकार की चिकित्सा का कोई वैज्ञानिक आधार अथवा तर्क प्रायः नहीं होगा। लेकिन जड़ी–बुटियों के ईलाज की पद्धति विश्वसनीय है और कई बार मुफीद भी जड़ी–बुटियों की जानकारी भी आदिवासियों के पूर्वज पीढ़ियों से परंपरागत रूप से प्राप्त होती है। वैसे इस ज्ञान को गिने–चुने लोग ही अर्जित कर पाते हैं। जनजाति समाज साक्षरता का प्रतिषत अपेक्षाकृत काफी कम है। इसलिए आधुनिक चिकित्सा अथवा विकसित माने जाने वाले समाज द्वारा परंपरागत चिकित्सा पद्धतियों को अविष्वास या संदेह की दृष्टि से देखा जाता है, परन्तु सच यह है कि जनजातियों का औषधीय ज्ञान अनेक बार चमत्कृत करता है, जो आज भी बरकरार है। जैसे हड्डी टूटने पर हड़जुड़ी की पत्तियों का पेस्ट बनाकर उसे बांधने और खाने से हड्डी कुछ ही दिन में जुड़ जाती है। शरीर में कहीं भी चोट लगने पर ये लोग तुरंत कुरकुट के पत्तों को पीसकर उसका लेप लगाते हैं। जिससे उस स्थान का घाव भर जाता है और उसमें टांके लगाने की जरूरत नहीं पड़ती है। मलेरिया बुखार आने पर पीपल की दातुन करते हैं, उसकी पीक थूक दे, बाकी को गटक ले, सारी मलेरिया बुखार ठीक हो जाता है। दांत के लिए चितावर की देढ़ पत्ती दांत में दबाकर रखे तो दांतों में लगे कीड़े मर जाते हैं। इस प्रकार आंक के दूध को दो–तीन बूंद लगाने से दांत का दर्द ठीक हो जाता है। पलाष की जड़ की दातुन करने से, छाल का मंजन करने से पायरिया की बदबू ठीक हो जाती है। सर्प काटने पर इंद्रावन की जड़ को खिलाने से तथा करौंदा की जड़ों को

पानी में उबालकर पिलाने से तथा जड़ों को चबाने से सर्प का जहर उतर जाता है, जिस स्थान पर सर्प ने काटा होता है, उस स्थान पर ब्लड खुरजकर उस स्थान पर रस्सी बांध देते हैं।

जनजातीय लोग चिकित्सकों के इस गुण, ज्ञान और उनकी चिकित्सीय योग्यता की पुष्टि 'चाणक्य सूत्र' के श्लोक में भी किया गया है। श्लोक के मुताबिक कोई अक्षर अमान्य शक्ति रहित नहीं होता, कोई मूल जड़ी–बूटी अनौषधिक यानि औषधि गुण से रहित नहीं होता।[10]

प्रकृति के साथ आदिवासी समाज का संबंध

आदिवासी समाज में प्रकृति और पुरखों के प्रति आभार का भाव निहित होता है। ये प्रकृति पूजक हैं और जंगल, पहाड़, नदियों एवं सूर्य की आराधना करते हैं।11 आदिवासी दर्षन का पहला तत्व है, उसका प्रकृति की लय–ताल और संगीत का अनुगामी होना। दरअसल आदिवासी समाज में साहित्य अन्य कला माध्यमों से अलग और श्रेष्ठ नहीं माना जाता है। वहाँ कलाकार एक साथ गीतकार भी है, संगीतकार भी है और नर्तक भी। आदिवासी समाज परलोक के बजाय समूचे जीव–जगत को महत्वपूर्ण मानता है और मनुष्य की श्रेष्ठता के दंभी दावे को खारिज करता है। आदिवासी विष्व दृष्टि के अनुसार दुनियां का हर प्राणी और उसका जीवन बराबर महत्वपूर्ण है। इसलिए उन सबको बचाया जाना जरूरी है। आदिवासी दर्षन पूरी दुनियां में फैल रही बाजारवादी लालसा और उससे उपजी धनलोलुपता और हिंसा का नकार करता है। बाहरी समाज ने हमेषा आदिवासी इलाकों को प्राकृतिक संसाधनों के दोहन का केन्द्र माना है। आदिवासी जिस प्रकृति को माँ मानते आये हैं, उसे बाहरी लोगों ने मुनाफे का साधन मात्र माना है। देष के तमाम आदिवासी इलाके संसाधनों के दोहन के लिए बर्बाद कर दिए गए और अब भी किये जा रहे हैं। आदिवासी उन जंगलों, नदियों, पहाड़ों से जरूरत भर चीजें लेता आया है और बदले में उनकी रक्षा करता आया है। वे उसके जीवनाधार हैं। आज भी अधिकांष इलाकों में यह प्रक्रिया देखी जा सकती है। कल्पना करे कि किसी आदिवासी बस्ती के सीमावर्ती जंगल में किसी फल का पेड़ है तो वहाँ के आदिवासी उस पेड़ से जरूरतभर फल चुनेंगे, वे भी सबसे पहले पककर झड़े हुए। यह 'संतोषं परं सुखं' का विचार नहीं, रचाव और बचाव का दर्षन है। यानि जरूरत भर उपयोग के बाद दूसरों के लिए चीजों को बचाना।

आदिवासी दर्शन हमें यह भी बताता है कि दूसरों के अधिकार का मान–सम्मान कैसे होता है। आदिवासी लोग गाय, भैंस का दुध नहीं पीते हैं, क्यों नहीं पीते हैं? क्योंकि उनका मानना है कि दूध पर सबसे पहल उसके बच्चे यानि गाय–भैंस के बछड़े का हक है। दूसरा समाज बच्चे को उसकी माँ के सामने बांधकर उसका दूध निकालता है। वह इतना खुदगर्ज और लालची है कि सूई दे–देकर दूध दूहता है। रुपये–पैसे की लालच में वह उसे पीता भी नहीं, बल्कि बेचता है। वह समाज कहता है कि जीने का सबसे बेहतर दर्षन उसके पास ही है। आदिवासी न सिर्फ इंसानों के हक का सम्मान करते हैं बल्कि जानवरो के हक का भी सम्मान करते हैं। षिकार में जाने वाले कुत्ते तक के अधिकार की भी हम रक्षा करते हैं। शिकार के बाद उसे भी बराबर का हिस्सा मिलता है। आदिवासी पूरे समुदाय के विकास की बात करता है। वह सबको साथ लेकर सबके साथ आगे

जाना चाहता है।[12] ''आदिवासी दर्शन आवश्यकता आधारित है। वह कहता है उतना ही लो, जितनी जरूरत है। अगर गांव में दस आम के पेड़ हैं तो वह उतना ही लेगा, जितना वह खा सकता है। बाकी वह दूसरों के लिए यानी समुदाय के लिए छोड़ देता है।''[13]

आदिवासी समाज में प्रकृति का स्थान सर्वोपरि है। प्रकृति में ही आदिवासियों की धार्मिकता और आध्यात्मिकता छुपी हुई है। इसलिए डॉ० रामदयाल मुण्डा कहते हैं – ''हम उनसे भी ज्यादा आधुनिक हैं जो आज के दिन प्रकृति की रक्षा करने की बातें कर रहे हैं। हम तो प्राचीनकाल से ही प्रकृति को महत्व देते आ रहे हैं।'' झारखण्ड में रहने वाले आदिवासियों का विश्वास प्राकृतिक शक्तियों पर ही आधारित है। यहाँ के उराँव, मुण्डा, संताल, हो, खड़िया आदिवासियों ने भले ही अपने ईष्वर का नामकरण अलग–अलग जरूर किया है, परन्तु सभी का विष्वास यही है कि सृष्टि में जो भी सर्वोच्च सत्ता है, वह प्रकृति में ही निहित है। ये सखुआ या साल के पेड़ के नीचे और करम की डाली को गाड़कर पूजा–अर्चना करते हैं। इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि ये पेड़ों की पूजा करते हैं, बल्कि इनका विष्वास है कि पेड़ों पर ईश्वर यानि सिंङबोंगा का वास है। आदिवासी अन्य जीवों की उपासना नहीं करते, लेकिन उनके प्रति श्रद्धा जरूर रखते हैं।[14] आदिवासी समाज प्रकृति के प्रति कृतज्ञ है, उसे मालूम है कि प्रकृति के बिना उसका कोई अस्तित्व नहीं है। आदिवासी समाज के लिए प्रकृति जीवन की पहली पाठषाला होती है।

निष्कर्ष

समग्रतः कहा जा सकता है कि आज की उपभोक्तावादी संस्कृति, सतत् विकास के पर्यावरण विरोधी मॉडल, औद्योगिकीकरण, प्राकृतिक संसाधनों का असंयमित दोहन, वैज्ञानिक संसाधनों का दुरूपयोग, आधुनिक जीवन शैली आदि कई कारणों ने आज हमें प्रकृति पूजक से प्रकृति विरोध बना दिया है तथा जल, जंगल, जमीन की अनियंत्रित लूट का खेल चल रहा है, लेकिन आदिवासी समाज आज भी जंगल और बिहड़ों में रहकर प्रकृति को बचाने में लगा है। इसके लिए उसे हर कदम पर संघर्ष करना पड़ रहा है। विकास का मॉडल पर्यावरण और प्रकृति के अनुकूल न होने तथा उसकी क्रियांविती में नीति और नियमों का पालन न होने के कारण प्रकृति निरंतर नष्ट होती जा रही है। आदिवासी समुदाय सदियों से जल, जंगल और जमीन के रक्षक रहे हैं। पर्यावरण संरक्षण, जलवायु की नियमितता, सतत् विकास में आदिवासियों का मुख्य योगदान रहा है।

आदिवासियों का संरक्षण प्रकृति संरक्षण के समान है, प्रकृति संरक्षण अच्छे भविष्य के लिए अति आवश्यक है, हमें सतत् विकास की अवधारणा को अपनाते हुए सीमित मात्रा में संसाधनों का उपयोग करना चाहिए, ताकि भविष्य में पीढ़ियाँ भी लाभान्वित हो सके। आदिवासियों का जीवन पूर्णतः प्रकृति द्वारा पोषित है। आदिवासी जीवन का प्रारंभ अथवा उसका रहवास जंगलों के मध्य अथवा आसपास होता है। उसके भरण–पोषण के साधनों की पूर्ति जंगल की उपज पर निर्भर होती है। उसका आर्थिक जीवन प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर करता है। तात्पर्य यह है कि आदिवासियों की भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति मूलतः प्रकृति पर ही निर्भर है। आदिवासी जीवन से लेकर मृत्यु तक की यात्रा प्रकृति के

साथ करता है। वह सही मायनों में प्रकृति पुत्र है। आदिवासी जीवन और समाज किसी भी प्रकार के शास्त्रीय बंधनों को स्वीकार नहीं करता। जल, जंगल, जमीन सबके लिए आवष्यक है, लेकिन आदिवासी समाज के लिए इसका सबसे अधिक महत्व है। आदिवासी समाज न केवल जीविका के स्तर पर इन तत्वों पर आश्रित रहता है, बल्कि भावनात्मक रूप से भी ये तत्व उनके लिए अपरिहार्य होते हैं। जंगल की बंजर जमीन को भी आदिवासी समाज अपनी मेहनत से उपजाऊ बनाता है। जमीन आदिवासियों को अन्न देती है और बदले में आदिवासी समाज इस जमीन को माँ का दर्जा देता है। ये जमीन उसकी सांस्कृतिक पहचान का हिस्सा है।

आदिवासी समाज पर्यावरण संरक्षण और सतत् विकास के लिए प्रेरणा का स्रोत है। उनकी परंपराएँ और जीवनषैली हमें सिखाती है कि कैसे प्रकृति के साथ सामंजस्य बनाकर जिया जा सकता है। उनके योगदान को संरक्षित और प्रोत्साहित करना मानवता और प्रकृति के भविष्य के लिए आवश्यक है। आदिवासी जिन्हें अक्सर जनजाति, वन पुत्र आदि नामों से जाना जाता है। इस धरती के सबसे पुराने साथी हैं, जिन्होंने प्रकृति को माँ समान समझा व जल, जंगल, जमीन की रक्षार्थ प्राण भी न्यौछावर किए।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. चौधरी, उमाशंकर : 'हासिये की वैचारिकी' एवं विनायक तुकाराम : 'आदिवासी कौन', अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 2008, पृष्ठ संख्या–25

2. रावत, उषा कीर्ति, पाण्डे, सतीश, दुबे, शीतल प्रसाद : 'आदिवासी केन्द्रित हिन्दी साहित्य', हिन्दी बुक सेंटर, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2012, पृष्ठ संख्या–2

3. सहाय, मीणा गंगा : 'आदिवासी साहित्य विमर्श', दिल्ली, 2014, पृष्ठ संख्या–108

4. तलवार, वीर भारत : 'झारखण्ड के आदिवासियों के बीच एक एक्टिविस्ट के नोट्स', दिल्ली, 2008, पृष्ठ संख्या–178

5. टेटे, वंदना : 'आदिवासी दर्शन और साहित्य', विकल्प प्रकाशन, प्रथम संस्करण –2016, पृष्ठ संख्या–63

6. सक्सेना, एच० एम० : 'पर्यावरण एवं प्रदूषण', राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, तृतीय संस्करण–1995, पृष्ठ संख्या–2

7. गुप्ता, रमणिका : 'आदिवासी कौन', पृष्ठ संख्या–6

8. सहाय, मीणा गंगा : 'आदिवासी साहित्य विमर्श', अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर प्रा० लि०, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2014, पृष्ठ संख्या–37

9. स्मारिका – सम्पादक रमेश चन्द्र मीणा, ओ० पी० शर्मा का लेख 'पर्यावरण को बचाने के लिए संघर्षरत आदिवासी', दिसम्बर 2011 को राजकीय महाविद्यालय, बूंदी में आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी, पृष्ठ संख्या–119

10. जैन, कामिनी : 'भारत के आदिवासी', 2022, पृष्ठ संख्या–126

11. गुप्ता, रमणिका : 'आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी', दिल्ली, पृष्ठ संख्या –121

12. डुंगडुंग, ग्लैडसन : 'आदिवासी दर्शन और साहित्य' (आलेख – आदिवासी दर्शन के पास ही दुनियां को लौटना है), विकल्प प्रकाशन, प्रथम संस्करण– 2016, पृष्ठ संख्या–65

13. वही, पृष्ठ संख्या–66

14. तोपनो, जोवाकिम : 'आदिवासी और साहित्य' (आलेख – आदिवासी साहित्य सृजन के लिए हमें टिकू चश्मा नहीं चाहिए), विकल्प प्रकाशन, प्रथम संस्करण –2016, पृष्ठ संख्या–68

Copyright © 2026 Author(s). Published by Siri Research Foundation. This is an open access article distributed under the Creative Commons Attribution International License (CC BY 4.0).